□□□□□□□□□□ □□□

जनसत्ता 14 जुलाई, 2014 : भीतर और बाहर के सूने सपाट में अकस्मात यह कैसी तरंग उठी और उठ कर फैलती ही गई!

महज एक काव्य-पंक्ति, सबकी जानी-मानी एक सुविख्यात कवि की क्यों इस तरह अयाचित और अकस्मात मन में कौंध उठी कि मुझे लगने लगा- मुझे जो कुछ कहना था वह मैंने कह दिया और कहने के साथ ही कर भी दिया। कुछ इस तरह कि मानो जो कुछ भीतर ही भीतर जाने कब से मुझे घोंट रहा था, उसके अभिव्यक्त होने की ही नहीं, चरितार्थ भी होने की घड़ी सचमुच आ गई और उसी को शीर्षक की जगह टांक कर मैं कृतार्थ और कृतकृत्य अनुभव करने लगा हूं- कुछ ऐसे, जैसे जिस विषय-वस्तु की मुझे आहट तक नहीं मिल पा रही थी, वह अनायास और अप्रत्याशित अभी बिल्कुल अभी स्वयमेव मेरे सामने सदेह साकार प्रगट हो गई हो। और दोनों बांहें उठा कर चिल्ला-चिल्ला कर घोषित कर रही हो कि- देखो, यह अभूतपूर्व अवसर है अपनी सदियों की पस्ती और किंकर्तव्यविमूढ़ता को झाड़ फेंकने का- तुम्हारे, अर्थात भारत के जीवन-रथ का जो सबसे कमजोर पहिया रहा है- कब से खामखाह खड़खड़ाता और बाकी तीन पहियों को भी गतिरुद्ध और क्षतविक्षत बनाता- उसे दुरुस्त करने का- आमूलचूल नया और मजबूत-सक्षम बनाने का मुहूर्त आ गया है। अब तो चेतो, अब तो लपक लो इसे- अपनी अभी तक चलती फिरती, किंतु जरा-जीर्ण और जिसकी-तिसकी दबसट में पड़ी हुई जिजीविषा को पूरी तरह जागृत करने हेतु...।

लगभग हजार बरसों की राजनीतिक पराधीनता और उससे उपजी दीन-हीनता से किसी तरह उबरे स्वतंत्र भारत की सारी स्वातंत्र्योत्तर उलझनों और विडंबनाओं के यथातथ्य साक्षात्कार की और उनके सक्षम प्रतिकार की संभावनाओं का ऐसा अहसास इतने व्यापक और विराट पैमाने पर जगा देने वाला भारत का यह सोलहवां लोकसभा चुनाव और इसके अपूर्वानुमेय चुनाव-परिणाम हमें सिर्फ चौंका भर नहीं रहे; वे एक विचित्र और दुर्निवार तात्कालिकता और त्वरा के साथ हमें अपनी इस महा-भारतीय सभ्यता के समूचे इतिहास-चक्र और नियति को लेकर भी एक ऐसे अभूतपूर्व आत्म-मंथन और आत्मदान के लिए भी उकसाते प्रतीत हो रहे हैं, जो कदाचित हमसे अभी तक संभव नहीं हुआ; या फिर जब कभी हुआ भी था तो आधे-अधूरे ढंग से ही हुआ था। तो क्या सचमुच समय आ गया है अपनी सभ्यता के स्वरूप को और विश्व-सभ्यता में अपनी जगह को भी यथातथ्य पहचानने और आत्मविश्वासपूर्वक जीने का? या कि यह भी एक और भ्रांति, एक और छलना है? 'छलना थी फिर भी, उसमें मेरा विश्वास घना था/ उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था।'...

राजनीति हमारे सार्वजनिक जीवन-रथ का सबसे कमजोर पहिया इसलिए रहा कि हमने अपने जनसामान्य की 'शक्ति' को, सामुदायिक उत्थान के लिए अनिवार्य उसकी अंतर्निहित प्रतिभा की संभावनाओं को पहचाना ही नहीं। न तो तथाकथित प्रबुद्ध और अधिकार-संपन्न वर्गों ने सारे उपलब्ध संसाधनों का साझा उसके साथ करते हुए, उसके प्रति अपने ऋणशोध की जिम्मेदारी निभाई, न शैक्षिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में ही कालगति के साथ होने वाले परिवर्तन और प्रगति में ही अपने साथ-साथ उसे भी दीक्षित करने और इस तरह समूचे देश के उत्थान में उसकी भूमिका सुनिश्चित करने की दूरदर्शी पहल की। उन्नीसवीं सदी का पुनर्जागरण इसीलिए आधा-अधूरा रहा। जबकि इतिहास विधाता ने स्वतंत्रता संग्राम की देहरी पर ही हमें एक ओर महात्मा गांधी और दूसरी ओर श्रीअरविंद सरीखे ऊपर से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले, मगर वास्तव में परस्पर पूरक प्रतिभाओं का नेतृत्व सुलभ कर दिया था।

जसि हम भारतीय पुनर्जागरण कहते हैं उसमें दो दौर और दो आवाजें हैं□ □ क दौर वह है, जो भारतीय संस्कृति के अपने 'सुपरस्ट्रक्चर' की ओर ध्यान देने, उसी का आवाहन करने का दौर है जसिकी परणिति श्रीअरविंद के 'फाउंडेशंस ऑफ इंडयिन कल्चर' में देखी जा सकती है□ दूसरा दौर वह है, जसिकी शुरुआत का शंखनाद गांधीजी के 'हिंद स्वराज' में सुनाई देता है□ यहां संस्कृति के 'सुपरस्ट्रक्चर' की जगह उसके 'इन्फ्रास्ट्रक्चर' का आवाहन कयिा जा रहा है□ बल्कि इस दौर में वह 'इंफ्रास्ट्रक्चर', वह बुनयिादी स्वावलंबी जन-चेतना ही मानो मूर्तमिान होकर □ क समूची सभ्यता का प्रतनिधि स्वर बन कर मुखरति होने लगती है□

'हिंद-स्वराज' में गूंजते इस बुनयिादी-ओजस्वी स्वर के पीछे वह सदयिों से अवहेलति वरिाट जनजीवन की परंपरा है, जो लेखक के शब्दों में 'असली भारत' है□ 'जसि पर न अंग्रेज राज कर सके, न आप राज कर सकेंगे□ ' यह 'आप' वह अंग्रेजी शकि्षा प्राप्त सुवधिाभोगी भारत का तथाकथति बुद्धजिीवी वर्ग है, जसि गांधीजी 'हिंद स्वराज' में संबोधति कर रहे हैं□

यह उसी हिंदुस्तान की '□ लो बट इंडसि्ट्रक्टबिल फार्म ऑफ लाइफ' ('जीवन की सबसे नचिली मगर अवध्य-अवनिाशी बुनयिादी संरचना कहा था जसि प्रख्यात उपन्यासकार इ□ म फोर्स्टर ने अपने दूसरे भारत प्रवास के दौरान'), की आवाज है, जो नरिक्षर होते हु□ भी संस्कारी है, जो ह□ प्पा नालंदा, और वेद के मैक्समूलरी संस्करणों से अनभजि्ञ होते हु□ भी भारतीय सभ्यता के आधारभूत मूल्यों से चपिका हुआ है□ तभी तो गांधीजी कह सके-इसी आत्मवशि्वास के बूते, कि 'हिंदुस्तान के हति-चतिकों को चाहि□ कि वे हिंदुस्तान की सभ्यता से, बच्चा जैसे मां से चपिका रहता है, वैसे चपिके रहें□ ' इसलि□ कि 'यह ऐसी सभ्यता है, जसिका बल सत्याग्रह का, आत्मबल का, या करुणा का बल है□ '

दविंगत गोवदि चंद्र पांडे ने भी □ क जगह कहा है कि 'सामान्य जनता तक ज्ञान का अर्थ आत्मज्ञान समझे, न कि व्यावहारकि ज्ञान, यह भारत की ही वशिषेता है□ ' बेशक यह आत्मज्ञान व्यावहारकि ज्ञान के आ□ नहीं आता, बल्कि उसे मानवीय और पावनतामूलक बनाता है□ तुलना में, पश्चमि की ज्ञानदृष्टि ही नहीं, धर्मदृष्टि तक अधकिांशत: रजोगुणी आसक्ति से ही परचिालति जान प□ ती है□ इसलि□ कि वह चेतना के मनोमय स्तर से आगे नहीं जा सकी□ इसी सीमा के चलते उसके लि□ सबसे ब□ ा पुरुषार्थ समूचे वशि्व का अवधारणात्मक वशीकरण और शोषण बन जाता है□

मानवीय पुरुषार्थ की ऐसी समझ दूसरी अपने से भनि्न और उच्चतर मूल्यों पर आधारति संस्कृतयिों को 'पैगन' (बहुदेववादी) कह के अवमूल्यति करते हु□ उन्हें ज□ से उखा□ ने में जुट जा□ तो इसमें अचरज क्या? वैसा ही हुआ भी है, और जहां वे पूरी तरह सफल नहीं हो पा□ , जैसे भारत में, वहां भी उनकी अपनी श्रेष्ठता के मथि्यादंभ से प्रेरति वभिाजनकारी गतविधियिां अपना भेष बदल कर आज भी यथावत जारी हैं□

दो आपस में बेमेल मूल्यदृष्टयिों का जैसा-तैसा घालमेल □ क खच्चर सरीखा बांझपन ही उपजा सकता है और सारी भौतकि-आर्थकि-प्रगति के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर (यानी दास्योत्तर) काल में ऐसा ही दृश्य हमारे देश में उजागर होता रहा है□ इसके लि□ वह सत्तासीन बुद्धजिीवी वर्ग जम्मिेदार है, जसि गांधीजी ने 'ऑवर हार्ड-हार्टेड इंटेलजिेंसयिा' कहा था□ हमारे वास्तवकि गुणों को, रचनात्मक संभावनाओं को उकसाने-जगाने के बजाय उन्हें हमारे भीतर ही पातालवास दे देने वाली और हमारी नकिृष्टतम प्रवृत्तयिों और कमजोरयिों को ही उभारने वाली इस आत्महीन, दशिाहीन राजनीति और वैसी ही नकलची शकि्षा ने (जो यों भी सबको सुलभ नहीं: स्वतंत्रता के साठ साल बाद भी जनसामान्य को साक्षरता तक के लाले प□ रहें, इससे ज्यादा शर्मनाक वफिलता हमारी शासन-व्यवस्था की भला और क्या होगी?) इस व्यवस्था ने क्या हमारे सयानों को और क्या युवा-वर्ग को □ क सरीखा सनिकिल और मूल्यमू□ बना दयिा है□

इसी मूल्यमू□ उदासीनता के चलते जीवन के हर क्षेत्र में वास्तवकि समाज यानी भरे-पूरे समाज की स्वत:स्फूर्त पहल का उत्तरोत्तर ह्नास होता गया है

और सरकारी हस्तक्षेप हर जगह आमंत्रित किया जाने लगा है। जिसका मतलब यही होता है कि विकास के नाम पर वास्तविक जन निरंतर ठगे जाने को ही अभिशप्त रहा आ। और सबसे ज्यादा संवेदनहीन और बंजर-अनुपजाऊ बिचौलिा ही सारा लाभ लूट लें।

सरकार में ही नहीं, गैर-सरकारी स्वायत्त कहलाने वाले शक्ति-पीठों पर भी जो लोग अमूमन काबिज रहते आ। हैं, वे खुद अपने परिवेश और जनसामान्य की सहज बुद्धि से बुरी तरह कटते चले ग। हैं। जो कुछ भी वे अपनी परजीवी उल्टी खोपड़ी पर उपजाते हैं, उसका समर्थन-मूल्य भी वे अपने असली 'लोक' से नहीं, बल्कि बाहर, से परदेश से प्राप्त करने को लालायित रहते हैं। कदाचित वे अपनी अवचेतना में गहरे कहीं अनुभव करते हों कि उनकी यह उपज उनके अपने लोगों के कुछ खास काम की नहीं है और इसीलिा उनकी सांस्कृतिक-आर्थिक हैसियत को ठोस सूत भी बढ़ाने वाली नहीं है।

'हिंद स्वराज' और 'फाउंडेशंस ऑफ इंडियन कल्चर' सरीखे हमारे स्वतंत्रता संग्राम के बीजग्रंथों में रेखांकित की। ग। इस तथ्य के प्रति भी इस 'हार्ड हार्टेड' (कठोर-हृदय) और 'सॉफ्ट हैडेड' (पिलि-पिलि दिमाग वाले) सत्ताधारी बुद्धिजीवियों ने मानो जानबूझ कर अपनी आंखें मूंद ली हैं कि दुनिया भी उसी की कद्र करती है, जो अपनी और अपनों की कद्र करना जानता है और अपने लोगों का, यानी उन्हीं के मूक श्रम और धैर्य के बूते ही पनपी और अभी तक किसी तरह बची हुई सभ्यता-संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है। पर जो शक्तिपीठ, सुविधाभोगी और हर तरह की ताकत बटोर कर पुण्यात्मा बौद्धिक यहां तक कि जन-प्रतिनिधि तक कहलाने वाला तथाकथित श्रेष्ठ वर्ग अपनी सभ्यता के स्रोत से ही नहीं, उसके भले दबे-कुचले, मगर जिंदा चलते-फिरते दृष्टांतों से ही जाने-अनजाने कट चुका है, वह उसका प्रतिनिधित्व कर ही कैसे सकता है? सारी सार्थक रचनाशीलता और आत्मालोचना तो वहीं से न आती है!

ऐसे लोगों से यह प्रत्याशा कैसे की जा। कि वे शक्ति की- राजनीतिक शक्ति की भी मौलिक कल्पना कर सकने में सक्षम होंगे। लेकिन आशा का आधार तो उसी में है, अन्यत्र नहीं। गीता में आता है कि समाज के श्रेष्ठ जन जैसा आचरण करते हैं, बाकी लोग भी अंतत: उन्हीं का अनुसरण करते हैं ('यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन:/ स यत्प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदनुवर्तते) यह कितनी मर्म की बात है, कितनी जबर्दस्त और यथार्थ परक चेतावनी इसमें निहित है, कहने की जरूरत नहीं। इसीलिा जो श्रेष्ठ बन बैठे हैं उनका सचमुच श्रेष्ठ होना यानी- अपनी बुनियाद से, जनमानस से गहरे में जुड़ा होना परमावश्यक है।

फेसबुक पेज को लाइक करने के लिा क्लिक करें- https://www.facebook.com/Jansatta

ट्विटर पेज पर फॉलो करने के लिा क्लिक करें- https://twitter.com/Jansatta